गुरु तेगबहादुर

श्री मैथिलीशरण गुप्त

(गुरुकुल से उद्धृत)

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

२०२६ वि०

मूल्य एक रुपया

१.००

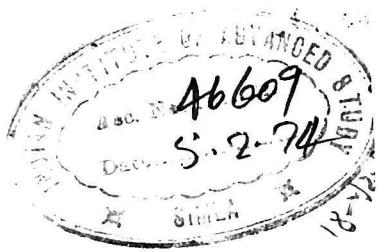

श्रीसुमित्रानन्दन गुप्त द्वारा
साहित्य मुद्रण, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।
तथा
साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) द्वारा प्रकाशित ।

गुरु तेगबहादुर

तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
गुरु-पदवी के पात्र, समर्थ ;
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
गुरु-पदवी थी जिनके अर्थ ।

तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
पञ्चामृत-सर के अरविन्द ;
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
जिनसे जन्मे गुरु गोविन्द ।

तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
भारत की माई के लाल ;
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
जिनका कुछ कर सका न काल ।

तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
मर कर जिला गये जो जाति ;
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
जिनके अमर नाम की ख्याति ।

तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
हुए धर्म पर जो बलिदान ,
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
जिन पर है हमको अभिमान ।

तेगबहादुर, तेगबहादुर ,
है विभिन्न भाषा का नाम ,
किन्तु अहा ! उसके भीतर है
बस अपना ही आत्माराम ।

रहते थे वे अलग शान्ति से ,
न था उन्हें गद्दी का लोभ ;
देता है सन्तोष जिन्हें प्रभु
उन्हें नहीं छू सकता क्षोभ ।

हरिचिन्तन, हरिजन की संगति ,
थे उन अतिथिदेव के काम ;
तेगबहादुर ने पाया था
देगबहादुर भी निज नाम ।

किन्तु न थे मालाधारी ही
वे आचार - विचारी शुद्ध ;
नाम-सत्यता दिखा चुके थे
तात-समय ही कर बहु युद्ध ।

गुरु हरिकृष्ण पौत्र थे, तब भी
गुरु के पद पर थे आसीन ;
उनकी इच्छा पूर्ण न करते
फिर कैसे वे इच्छा-हीन ?

वरा स्वयं गुरुता ने उनको,
हुए तदपि बाधक कुछ लोग ;
पर नक्षत्रधारियों का है
जाता कहाँ छत्र का योग ?

देश-दशा देखी गुरुवर ने
बिचरे ज्यों वन-मध्य मिलिन्द,
पुण्य पर्यटन-फल पटने में
पाया प्रकट पुत्र गोविन्द।

इस 'विभूति' का भी भागी था
पाटलिपुत्र,—अलौकिक ओक,
जिसे दे चुके थे चिर गौरव
चन्द्रगुप्त चाणक्य, अशोक।

शासन था औरंगजेब का,
चारों ओर मचा था त्रास ;
किया जा रहा था बलपूर्वक
दिन दिन हिन्दूकुल का ह्रास।

बूढ़े बाप, बड़े भाई को
भूल गया था जिसका धर्म,
अन्य धर्मियों के प्रति उसने
किया न होगा कौन कुकर्म !

बनी काव्य-सगीत कला की
उसी शुष्क के समय समाधि,
उसने कहा—"गाड़ना ऐसे
उभर न पावे फिर वह व्याधि !"

कोप कृपा करके करता था
कूटनीति वह कुटिल, कठोर ;
ऊपर से खिलने देता था
भीतर से उनमें विष घोर !

न्याय माँगने आते उससे
साधु-सन्त जन सहज विनीत,
किन्तु हूल कर हाथी उन पर
जाता वह उद्धत अवगीत ।

गुरु तेगबहादुर

राक्षस यज्ञनाश करते थे,
उसके मुल्ला भी स्वच्छन्द,
करते फिरते थे दल-बल से
आर्यों के धर्मोत्सव बन्द।

देव यथा दैत्यों के भय से
आये थे दधीचि के द्वार,
कुछ काश्मीरी ब्राह्मण आकर
गुरु से करने लगे गुहार,—

"डूब न जाय हाय! हे गुरुवर,
निज नन्दनवन-सा काश्मीर,
बरसाते हैं यवन-काल-घन
धेनु-रुधिर-धारा का नीर।

हिन्दू मुसलमान होते हैं,
मन्दिर मसजिद, यह अन्याय;
निज संस्कृति-साहित्य-सभ्यता
नष्ट हो रही है निरुपाय।

सहज सुन्दरी बहू बेटियाँ
हरी जा रही हैं हा आज !
रख सकते हैं एक आप ही
अपनी आर्य जाति की लाज ।

एक सूत्र में बाँध हमें जो
दें आयुर्बल तेज विशेष ,
शिखा-सूत्र सब टूट रहे हैं—
छूट रहे हैं भाषा-वेष ।

मतविभिन्नता होने पर भी
आते हैं अपने ही काम ;
हम दोनों के लिए एक ही
दीख रहा है दुष्परिणाम ।

नहीं जाति से ही हिन्दू हैं ,
आप धर्म से भी हैं आर्य ;
निज विचार-धारा स्वतन्त्र है
आदि काल से ही अनिवार्य ।

ब्राह्म कर्म के साथ आपमें
क्षात्रधर्म भी है भरपूर ;
कर सकता है और कौन फिर
विकट धर्म-संकट यह दूर !

मर सकते हैं, मरते भी हैं,
मार नहीं सकते हम दीन ;
क्षत्रिय, जो थे शूर सिंह, अब
हुए शृगालों से भी हीन।"

गुरु गम्भीर होगये, बोले—
"सच कहते हो तुम हे विप्र !
अब अन्याय असह्य हुआ है,
छूटे यह अक्षमता क्षिप्र।

होता नहीं बड़ा परिवर्तन
दिये विना बलिदान विशाल ;
करके दग्ध आपको दीपक
हरता है तब तम का जाल।

दान महान हमारा जितना
होगा उतना ही प्रतिदान।"
बोल उठे गोविन्द अचानक
"कौन आप-सा और महान!"

सभी सन्न थे, गुरु प्रसन्न थे,
हँसकर बोले—"अच्छी बात;
तात, तुम्हीं जैसों से होगा
मेरे ऐसों का प्रतिघात!

जाओ विप्रवरो, निर्भय हो
लिख दो बादशाह को पत्र—
'तेगबहादुर, मुसलमान हो
तो यह मत फैले सर्वत्र।

वही अग्रणी आज हमारा
हम सब हिन्दू उसके संग;'
देखो, क्या उत्तर देता है
इसका अन्यायी औरंग"

उत्तर तो जाना समझा था ,
आते नहीं वृकों को अश्रु ,
बोला वह—"हाँ, तेगबहादुर !"
लगा झाड़ने गुम्फश्मश्रु ।

रामराय पहले ही उसको
भरता था गुरु के विपरीत ,
हुक्म हुआ—"झट हाजिर हो वह
ले आओ जीते जी जीत ।"

प्रस्तुत थे गुरुवर पहले ही
अब दिल्ली को दूर न मान ,
वीर स्त्रियाँ बिदा देती थीं
रो रोकर गाकर शुभ गान !

बरसे साश्रु-सुमन-जय जय से
गूँजा उनका उच्च अलिन्द ;
"पिता ! पिता !" सन्नाटा छाया ,
गद्गद हुए पुत्र गोविन्द ।

कहा पिता ने—"वत्स ! नहीं है
कातर होने का दिन आज ;
व्यर्थ न होगी यह मेरी बलि ,
जाग उठेगा सुप्त समाज ।

क्षात्रभाव ही आवश्यक है
भारत में सम्प्रति सविशेष ;
वही धर्म-धन-जन-जीवन रख
रक्खेगा निज भाषा-वेष ।

जब हल, तुला और कुशधारी—
हों कृपाणधारी भी साथ ,
तभी हमारे धाम-धरा-धन
जाति-धर्म सब अपने हाथ ।

जन्म-मृत्यु, ये दोनों हैं निज—
उठते गिरते पलक-समान ,
बस स्वतन्त्रता और मुक्ति ही
यहाँ वहाँ विभु के दो दान ।

आत्मज, और कहूँ क्या तुमसे
तुम्हें उचित शिक्षा है प्राप्त,
केवल अपनी मनोवेदना—
कर दो तुम जन जन में व्याप्त।

तुच्छ नीर से नहीं, रक्त से
करता हूँ तुमको अभिषिक्त;
गुरु बन कर तुम मधुर बनादो,—
जनता का जीवन है तिक्त।

स्वयं जनार्दन-हेतु आपको
और तुम्हें जनता के हेतु,
अर्पित करके धन्य हुआ मैं,
धारण करो धर्म का केतु।

कट जावेंगे पुण्यभूमि की
पराधीनता के सब पास,
पाञ्चाली की लाज रहेगी
होगा दुःशासन का नाश।"

"जय गुरुदेव" गिरा फिर गूँजी
रहा न गौरव का परिमाण ;
पाँच शिष्य लेकर ही गुरु ने
दिल्ली को कर दिया प्रयाण ।

साथ न छोड़ सका गुरुवर का—
सचिव विप्र बुधवर मतिदास ,
उसे प्रेम था उन पर पूरा
और उन्हें उस पर विश्वास ।

होते हैं स्वाधीन साधु जन ,
लगी उन्हें पथ में कुछ देर ;
पर सह सकता कैसे इसको
आलमगीरी का अन्धेर ।

एक अकिञ्चन मुसलमान ने
मिल कर उनको किया प्रणाम ,
कहा—"आपके लिए हाल में
एक लाख का हुआ इनाम ।"

गुरु हँस बोले—"तो आओ, मैं
दिल्ली चलूँ तुम्हारे साथ !"
"मेरी ऐसी ताब कहाँ है !"
जोड़े उसने दोनों हाथ।

"भाई, मैं तो जाता ही हूँ
तुम क्यों होते नहीं निहाल !
अहोभाग्य है यदि मुझसे हो
मालामाल एक कङ्गाल !"

रक्खा गया उन्हें दिल्ली में
विद्रोही बन्दी-सा रोक ;
जो स्वतन्त्रचेता होते हैं,
पाते हैं शूली तक, शोक !

कैसे गति पावें कारागृह
जो अघ-अर्णव के उपकूल,
जीवनमुक्तों के चरणों की
कभी न पावें यदि वे धूल !

बादशाह कुछ क्रूर हँसी हँस
बोला गुरु से ताना मार—
"बड़े धर्मगुरु हो, दिखलाओ
कोई करामात इस वार।"

गुरु ने उत्तर दिया—"हुई है
करामात की ऐसी चाह,
तो गलियों में बहुत मिलेंगे
बाजीगर बुलवा लें शाह।

पल में पेड़ लगा देंगे वे,
लग जावेंगे सब फल-फूल;
पर ये सब्ज बाग होते हैं
सबके सब बेजड़ - निर्मूल!

मुझे सत्य का ही आग्रह है
धर्माग्रही शाह भी ऐंन
रखते होंगे स्वयं बड़ी कुछ
करामात तब कहते हैं न!"

कहा यवन ने असि चमकाकर ,
"मेरी करामात यह साफ !
बँधे पड़े हैं तुम जैसे गुरु ,
मारूँ चाहे कर दूँ माफ !"

"शाह बड़े भारी भ्रम में हैं ,
बद्ध देह है बन्धन आप ;
किन्तु मुक्त है मेरा आत्मा ,
वह निर्लेप और निष्पाप ।

और यही असि करामात है ,
जिस पर बादशाह को गर्व ,
तो मुझमें भी चमत्कार यह—
समझूं उसको तृण-सम खर्व !"

"डरते नहीं कहो क्या तुम कुछ ?
या कि हुए हो नाउम्मेद ?"
गुरु ने उत्तर दिया कि "यह भी
आप नहीं समझे, हा खेद !

नहीं डराते स्वयं किसीको,
डरें किसीसे फिर क्यों वीर ?
वे निराश हों जो हों पापी,
पामर, परपीडक, बेपीर।

आशा क्या, विश्वास हमें है,
और यही है उसका मर्म—
छोड़ दिया फल प्रभु पर हमने,
कर्म किया है समझ स्वधर्म।

हम क्यों डरें, डरे वह जिसको
दीख रहा हो दुष्परिणाम ;
जिसने कोई पाप किया हो
लेकर किसी पुण्य का नाम।"

बादशाह बोला—"रहने दो
अब फिजूल है ज्यादा तूल ;
जीना हो तो मुसलमान हो—
शाही मजहब करो कुबूल।"

"शाही मजहब के भी ऊपर
मानव-धर्म न भूलें शाह ;
मिलते नहीं जलधि में जाकर
एक पन्थ से सभी प्रवाह ।

सतत मतस्वातन्त्र्य सभीको
देता है स्वराज्य में राम ;
मर्यादा रखकर नास्तिक तक
पाते हैं उसमें धन - धाम ।

प्रिय होते न एक उस प्रभु को
भिन्न-भिन्न इस भव के भाव ,
तो किस भाँति अनेक मतों के
हम करने पाते प्रस्ताव !

'जीना हो तो मुसलमान हो ,
शाही मजहब करो कुबूल ;'
किन्तु मरेंगे स्वयं एक दिन
शाह कृपा कर जाँय न भूल !

आप मरें, मैं मारा जाऊँ,
हो सकता है यही प्रभेद ;
देगी किन्तु मुझे गौरव ही—
मेरी मृत्यु, न देगी खेद।"

कहा कुपित औरंगजेब ने
"ठीक न होगे यों तुम ढीठ ;
ठहरो !" गुरु-शिष्यों पर उसने
डाली तब डरावनी डीठ।

"बस जवाब दो एक बात में
तुम सबको है क्या मंजूर !"
"गुरु की विजय,-विजय निजगुरु की"
गरज उठे वे पाँचों शूर।

गुंजारित हो उठा वहाँ पर
"जय गुरुदेव !"नाम का नाद ;
दाँत पीसकर बादशाह ने
हाँक लगाई—"हाँ जल्लाद !"

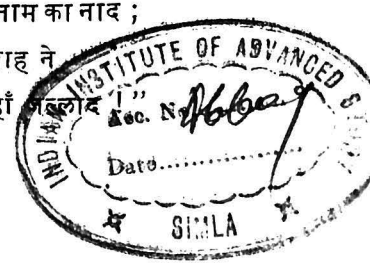

गिरे हाल, पाँचों सिर कट कर
हुआ धर्मबलि का मुहँ लाल ;
कहा गर्व-गौरव से गुरु ने
पाँचों वार—"अकाल ! अकाल !"

"दैव दान का दुरुपयोग यह !"
बोला अति निर्भय मतिदास ,
"किन्तु अमर हैं, मरे नहीं ये
इसका साक्षी हो इतिहास ।

अन्यायी को याद रहे यह
यदि उसके कर में करवाल ,
तो उसके ऊपर भी प्रभु का
घूम रहा है चक्र कराल !"

बादशाह गरजा-"ओ काफिर ,
सोच समझ कर तू मुहँ खोल ,
मुसलमान हो जा, या अब क्या
तुझको भी मरना है बोल !"

"करो मुसलमानी उनकी जो
बेचारे बच्चे अनजान,
चाहो मेरा गला काट लो,
मैं सदैव हिन्दू - सन्तान !"

"गला नहीं, सिर पर आरा रख
डालो इसे इसी दम चीर,"
दाँत पीसने लगा क्रोध से
आज्ञा देकर आलमगीर।

चिरता रहा ठूँठ-सा द्विजवर
प्रणव नाद का निश्चल ठाठ !
उसे सुनाते रहे अन्त तक
गद्‌गद् गुरु 'जपुजी' का पाठ।

बोला फिर कर बादशाह फिर—
"तेगबहादुर, अब भी आव,
नहीं आप तुम बुतपरस्त हो
पूरे मुसलमान हो जाव।"

"नहीं मूर्त्ति-पूजक मैं, फिर भी
वे मेरे ही भाईबन्द,
प्रतिमा के मिस जो प्रभु की ही
पूजा करते हैं स्वच्छन्द।

करते हैं तद्रूप कल्पना
जपते हैं वे जिसका नाम,
भूखा है भगवान भाव का
सबमें रमा हुआ है राम।

'आप देव है, आप देहरा
आप लगाता है पूजा,
जल से लहर, लहर से जल है
कहने सुनने को दूजा।'

हिन्दू प्रतिमा-पूजन को ही
नहीं समझते अन्तिम लक्ष,
हरिचरित्र चिन्तन करते हैं
रख कर पहले चित्र समक्ष।

रखते हैं दो बन्धु परस्पर,
बहुधा निज विचार बहु भिन्न,
किन्तुरुधिर-सम्बन्ध कभी क्या
होता है उनका विच्छिन्न !

तिथि-त्योहार, पर्व-उत्सव युत
एक हमारे हैं व्यवहार ;
एक हमारे प्यारे पूर्वज,
एकप्रकृति, संस्कृति, संस्कार ।

फिर भी यदि कुछ मुसलमानपन
मानें हममें तो फिर बाह !
अब गोमांस खिलाने का ही
हठ क्यों ठान रहे हैं शाह !

दुग्धपोष्य बच्चों को खा ले,
नाग जाति की है यह ख्याति ;
दूध पिलाने वाली माँ तक
नहीं छोड़ती मानव जाति ।"

"एक वार, बस एक वार अब ,
मौका देता हूँ मैं और ,
मुसलमान होकर तुम मेरे
भाई हो, छोड़ो यह तौर !"

"भाई ! अरे दुहाई, रहिए ,
कहिए—दारा या कि मुराद ?
भाई से अरि ही अच्छा मैं
आई अब क्यों उनकी याद ?

होता नहीं बादशाहों का
कोई भाईबन्द न बाप !
मैं जो कुछ भी हूँ सो मैं हूँ ,
और आप जो हैं सो आप ।"

पैर पटक कर कहा यवन ने—
"ओ काफिर ! ओ नामाकूल ,
मर कर छुट्टी पा जाऊँगा
समझ रहा है तू, यह भूल ।"

सचमुच ही उस अन्यायी ने
गुरु को बन्दीगृह में डाल,
उन्हें अनेक कष्ट दिलवाये
मरने से भी कठिन कराल।

जिला जिला कर मारा उसने,
मौत मिटा देती है कष्ट;
मिटती नहीं वेदना तब तक
जब तक न हो चेतना नष्ट।

किन्तु चेतना भाबुक गुरु की
हुई सच्चिदानन्द - निमग्न;
जड़ शरीर को जो चाहे सो
करे दग्ध, दारित या भग्न।

कुछ दिन पीछे बादशाह ने
फिर बुलवाया उन्हें समक्ष;
पर मानो दृढ़ हुआ और भी,
पीड़ित होकर उनका पक्ष।

"अरे ! व्यर्थ ही बल दिखला कर
भरम गँवाया तूने वीर !
क्या यह आत्मा मर सकता है ?
जी सकता है कभी शरीर !

मेरा जीवन-मन्त्र बँधा है
देख, गले में तू यह यन्त्र ;
तेरी वह तलवार तुच्छ है ,
मैं हूँ अब भी स्वतः स्वतन्त्र ।"

"मैं स्वतन्त्र ही कर दूँ तुझको ,
हो जा मरने को तैयार ;
देखूं तेरे जन्त्र-मन्त्र सब
हा जल्लाद, तुले तलवार ।"

ध्यानमग्न गुरु छोड़ चुके थे
मानो पहले ही निज देह ,
सिर कट गया और ऊपर को
बरसा उष्ण रुधिर का मेह ।

पढ़ा गया वह यन्त्र खोलकर,
सुनता था सारा दरबार,
बस इतना ही खिला हुआ था—
"सिर दे डाला, दिया न सार!"

माँगा गुरुन्शव कुछ लोगों ने
किया यवन ने अस्वीकार;
रखवा दिया उसे पहरे में
जिसमें हो न सके संस्कार।

अन्त्यज कुल का वृद्ध एक जन,
जो गुरु से था हुआ कृतार्थ,
पुत्र सहित दिल्ली पहुँचा था
इच्छापूर्वक इसी हितार्थ।

अर्द्ध रात्रि, ऊँचे अट्टों की
ओट होगया चन्द्र समक्ष,
पर चकोर-सम पिता-पुत्र का
अब भी सम्मुख था निज लक्ष।

सुन पड़ती थी कहीं कहीं से
गीतध्वनि, मृदंग की थाप,
झूम झरोखों पर लटपट-सा
वायु झटपटाता था आप!

प्रहरी नीचे झींम स्वप्न में
देख रहे थे ऊँचे दृश्य;
किन्तु पुनीत पिता-पुत्रों को
वे सब बातें थीं अस्पृश्य।

ऊपर चढ़े चोर-सम दोनों
करने को शुभकार्य नितान्त,
उतरे, जहाँ अस्त अरणोपम
पड़े हुए थे गुरु चिर शान्त।

"जय गुरुदेव, धन्य तुमने ही
धर्म बचाया अपनी ओट;
अब घर चलो, उठो हे स्वामी!
उबरूँ मैं इस रंज में लोट।"

कहा पुत्र से उसने—"जिसमें
जग प्रहरी न करें सन्देह,
गुरु को लेजा और छोड़ जा,
यहीं काट कर मेरी देह।"

कहा पुत्र ने—"मुझे छोड़ कर
गुरु को ले जाओ तुम आप;
बेटा फिर भी हो सकता है,
बने रहो हे मेरे बाप!"

"पागल! मैं मरने को ही हूँ
पर तू है कुछ करने योग्य,
इससे यह मेरा विचार ही
है तेरे आचरने योग्य।

तू भी मुझ-सा मरना पावे
अपना ऐसा बेटा छोड़;
जाग न जायँ जवन, जल्दी कर,
तुच्छ मोह तिनके-सा तोड़।"

बाप हँस रहा था, बेटे को
मानो मार गया था काठ,
स्वयं वृद्ध ने निज सिर काटा
कर जी में 'जपुजी' का पाठ।

बेटा चौंक पड़ा, झट उसने
वहीं बाप को किया प्रणाम ;
फिर गुरु-सिर लेकर बच आया
रथ में रख लाया गुरुणाम।

था आनन्द पुरप्रांगण में
हाहाकार कि जयजयकार !
रोते रोते गाते थे सब—
"सिर दे डाला, दिया न सार !"

काँप उठा आकाश अचानक
प्रान्त प्रान्त कर उठा पुकार—
सुना सभी ने, कह सभी ने—
"सिर दे डाला, दिया न सार ! !"

उबल उठे उत्तप्त पञ्चनद,
रहा क्षोभ का वार न पार,
हर हर करके हहराये वे—
"सिर दे डाला, दिया न सार!!!"

46609
5-2-74